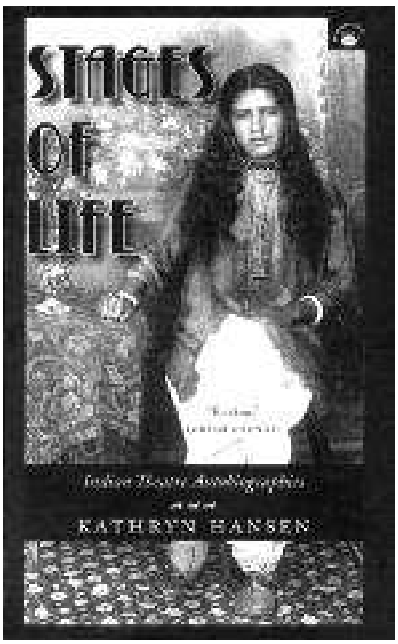
पारसी-नाट्यात्मचरित का तारीख़ी पिटारा

रविकान्त



स्टेजेज़ ऑफ़ लाइफ़ : इण्डियन थिएटर ऑटोबायॉग्रफ़ीज़
कैथरिन हैन्सन
पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत, 2011
मूल्य : 750 रु.
पृ.सं. 374.

हमारे पाठक शायद जानते होंगे कि टेक्सॅस ऑस्टिन में फ़िलवक़्त एमेरिटस प्रोफ़ेसर के पद पर कार्यरत कैथरिन (कैथी) हैन्सन ने भारतीय नाटक को अपनी ज़िंदगी का मश़ग़ला बना लेने के बहुत पहले हिंदी के हरदिलअज़ीज़ लेखक फणीश्वरनाथ 'रेणु' पर न सिर्फ़ अपना अद्‌भुत शोध-प्रबंध लिखा था, बल्कि उनकी छोटी-बड़ी गल्प-कृतियों का अंग्रेज़ी में बख़ूबी अनुवाद भी किया। उनके पास हिंदुस्तानी साहित्य, भाषा व नाटकीय रियाज़तों का भाष्य करने, क्लास के अंदर और बाहर उनकी तर्जुमानी करने का दहाइयों का तजुर्बा है, और यह तजुर्बा इस किताबी पिटारे में कूट-कूट कर भरा है।[1] पिटारा इसलिए क्योंकि इसमें न सिर्फ़ लोकप्रिय नाटक से जुड़ी चार आदि-विभूतियों की आत्मकथाओं के संक्षेपणों के कुशल अनुवाद हैं, बल्कि बतौर विधा आत्मकथा और उसकी ऐतिहासिकता पर चिंतन भी है— उस देशकाल और परिवेश पर तो है ही जिनमें इनकी रचना हुई थी। पिटारा इसलिए भी कि इन आत्मकथाओं में और कैथी के हाथों उनके विश्लेषण-संश्लेषण

---

[1] http://www.utexas.edu/cola/depts/asianstudies/faculty/kathrynh#research-online.



जयशंकर सुंदरी (दायें) बाबूलाल नायक के साथ 'स्नेह सरिता' में

के ज़रिये व्यावसायिक नाटक मण्डलियों की पूर्वपीठिका, कार्यकलाप, कार्यशैली, अनुशासन, प्रबंधन, चिंताओं, सरोकारों, नफ़ा-नुक़सान और संघर्षों का एक पूरा इतिहास जीवंत हो उठता है। हमें पता चलता है कि अलग-अलग सामाजिक-पारिवारिक पृष्ठभूमियों से आकर, अलग-अलग भाषाई और रचनात्मक औज़ारों-संस्कारों से लैस इन कलाकारों की एक हद तक समांतर चलती पेशेवर जीवन-यात्राएँ ऐसी रहीं तो क्यों, और उनके ये बयान इन अल्फ़ाज़ और अंदाज़ में ही हमारे सामने क्यों पेश होते हैं, इनकी ख़ुसूसी उपलब्धियाँ क्या हैं, और ख़ामोशियाँ कौन-सी? हिंदी पाठक राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की बहुभाषी मेहरबानी से पत्रिका *रंग-प्रसंग* व अन्य स्वतंत्र प्रकाशनों के ज़रिये नारायण प्रसाद 'बेताब' (1872-1945), आग़ा हश्र काश्मीरी (1879-1935), राधेश्याम कथावाचक (1890-1963), मास्टर फ़िदा हुसैन (1899-2001) व जयशंकर सुंदरी (1989-1975) के जीवन व रचनाकर्म से पहले से वाक़िफ़ हैं, और समीक्ष्य किताब अंग्रेज़ी के पाठकों को सम्बोधित है, लेकिन उन्नीसवीं सदी की करवट से लेकर बीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक व्यस्त इन आत्मचरितकारों के बक़लमख़ुद बयानों पर ऐसा दुर्लभ और समग्र चिंतन तो उनके लिए भी यक़ीनन उपादेय है।[2] कई नायाब सफ़ेद-स्याह तस्वीरों, और नाटक-मण्डलियों से जुड़ी शख़्सियतों पर दिये गये मालूमात से लबरेज़ पुछल्लों और सुंदरी के एक चरित्र-चित्र के दिलकश आमुख से सजी यह किताब अपने गद्य में प्रसादगुण-सम्पन्न और विषय के प्रति कैथी के जीवनपर्यंत प्रेम व जिज्ञासु प्रतिबद्धता का सबूत है। इस एक पिटारे में उन्होंने अपनी अंतर्दृष्टियों को निचोड़ा-भर नहीं है बल्कि अपने चिंतन को यत्किंचित विस्तार भी दिया है।

कथ्य, शिल्प, सौष्ठव, अंदाज़ेबयाँ और पैदाइश के नुक़्तों से दो कवि-लेखकों और दो अदाकारों की ये चार आत्मकथाएँ एक-दूसरे से ज़ाहिरा तौर पर अलहदा हैं। फ़िदा हुसैन नरसी की कहानी अंततः दास्तानगोई की ताजपोशी करती है, हालाँकि यह प्रतिभा अग्रवाल के साथ कई सत्रों में की

---

[2] राधेश्याम कथावाचक (2004), *मेरा नाटक-काल*, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली; नारायण प्रसाद 'बेताब' (2002), *बेताब चरित*; प्रतिभा अग्रवाल (1986), *मास्टर फ़िदा हुसैन : पारसी थिएटर में पचास वर्ष*, नाट्य शोध संस्थान, कलकत्ता; जयशंकर सुंदरी (1976), *थोड़ाँ आँसू; थोड़ाँ फूल : जयशंकर सुंदरी नी आत्मकथा*, संकलन : दिनकर भोजक व सोमभाई पटेल, अहमदाबाद; अनीस आज़मी (2004) (सं.), *आग़ा हश्र काश्मीरी के चुनिंदा ड्रामे*, दो खण्ड, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

गयी उनकी बातचीत से उपजकर उसी शक्ल में लिखी गयी। उसी तरह कुछ लिख कर, ज़्यादातर बोलकर लिखाई और कई संस्करणों से गुज़रती हुई गुजराती–उर्दू रंगमंच पर सक्रिय जयशंकर सुंदरी की आत्मकथा कैथी के हिसाब से पाश्चात्य शैली की आत्मकथा है, जिसमें कहानी मिला–जुला कर तारीख़वार चलती है। इन दोनों के उपनाम इनके ख़ुसूसी तौर पर मशहूर और बार–बार दुहराए गये पात्राभिनयों (नरसी भगत और सौभाग्य सुंदरी) से निकलकर जनश्रुति में इनकी पहचान का हिस्सा बन गये। ज़माने की रिवायत के मुताबिक़ फ़िदा ने कई सालों तक स्त्री–भूमिकाएँ कीं और सुंदरी ने सिर्फ़ एक बार पुरुष भूमिका निभाने की नाकाम कोशिश की। अलबत्ता दोनों ही ने हिदायतकारी यानी निर्देशन, प्रबंधन और प्रशिक्षण का काम भी लम्बे समय तक अंजाम दिया, और गायन तो उनके अभिनय का अटूट हिस्सा था ही।[3] फ़िदा ने छोटी–मोटी भूमिकाएँ फ़िल्मों के लिए भी कीं, लेकिन बस यूँ ही, उनका ग्रामोफ़ोन पर रिकॉर्डिंग का सिलसिला कुछ ज़्यादा जमा। बहुपठित राधेश्याम कथावाचक ने सिनेमा के लिए भी लिखा, लेकिन उतना नहीं, और अल्पपठित बेताब ने बहुत–कुछ, और बाक़ायदा बम्बई में बसकर लम्बे समय तक लिखा। कथावाचक और बेताब ने— जिन्हें छापाख़ाने में प्रूफ़रीडरी के ज़रिये नाटकों में प्रवेश का पास मिला— तो बाक़ायदा छापाख़ाने स्थापित किये और चलाए। कैथी यह रेखांकित करना नहीं भूलतीं कि फ़िदा भी किसी समय प्रेस में काम करते थे, और यह कि छापे के कारोबार में उस ज़माने के युवा रोज़गार का सहल–सुलभ ज़रिया देखते थे। यानी थिएटर की दुनिया के तार किस तरह भजन–प्रवचन, ग़ज़ल–क़व्वाली–मुजरे, छापाख़ाने, ग्रामोफ़ोन और सिनेमा की दुनिया से जुड़े हुए हैं, यह देखना दिलचस्प है।

> **फ़िदा ने कई सालों तक स्त्री–भूमिकाएँ कीं और सुंदरी ने सिर्फ़ एक बार पुरुष भूमिका निभाने की नाकाम कोशिश की।... फ़िदा ने छोटी–मोटी भूमिकाएँ फ़िल्मों के लिए भी कीं, लेकिन बस यूँ ही, उनका ग्रामोफ़ोन पर रिकॉर्डिंग का सिलसिला कुछ ज़्यादा जमा। बहुपठित राधेश्याम कथावाचक ने सिनेमा के लिए भी लिखा, लेकिन उतना नहीं, और अल्पपठित बेताब ने बहुत–कुछ, और बाक़ायदा बम्बई में बसकर लम्बे समय तक लिखा। कथावाचक और बेताब ने— जिन्हें छापाख़ाने में प्रूफ़रीडरी के ज़रिये नाटकों में प्रवेश का पास मिला— तो बाक़ायदा छापाख़ाने स्थापित किये और चलाए।**

अर्थार्जन, उत्पादन व सर्जन में लगी शख़्सियतों, कथानकों और शैलियों के प्रवाह के दृष्टिकोण से पारसी नाटक अंतर्क्षेत्रीय ही नहीं पराक्षेत्रीय था, वैसे ही जैसे कि शुरू से ही सिनेमा था। गुजराती सुंदरी बड़े अरमान से उर्दू सीखते हैं क्योंकि ग़ज़लों–नज़्मों के बिना पारसी नाटक मुमकिन नहीं होता। बोलती फ़िल्मों के बाद तो फ़िल्मी गीत भी अक्सर नाटकों के लिए तर्ज़ें मुहैय्या कराने लगे लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शुरुआती दौर की फ़िल्मसाज़ी पर पारसी नाट्यचर्या की स्पष्ट छाप है। सोहराब मोदी और पृथ्वीराज कपूर अदायगी की उस शैली से आजन्म उऋण नहीं हो पाए। इस तरह सिनेमा और पारसी रंगकर्म के इतिहास में जहाँ वाचाल सिनेमा द्वारा नाटक को ग्रस लेने का सियापा आम है, लेकिन इस दो–तरफ़ा आवाजाही, लेन–देन या दोनों की रूपगत निरंतरता पर बात कम हुई है। उसी तरह कैथी की उँगली पकड़कर अगर पारसी रंगमंच को अगर औपनिवेशिक मुठभेड़ का नतीजा मानते हुए आधुनिक मनोरंजन का एक घुमंतू शहरी आयोजन

---

[3] http://kabaadkhaana.blogspot.in/2009/04/blog-post_230.html.

> **फ़र्ज़ कीजिए कि शो का मुक़र्रर वक़्त साढ़े नौ बजे है, तो आठ बजे मंदिरों में लटकने वाली-जैसा पहला घंटा सौ बार बजेगा, दूसरा 8.15 पर पचास बार और तीसरा पच्चीस बार बजता था 8.30 पर, तब तक आपकी भूमिका चाहे आख़िरी सीन में हो लेकिन आपको ख़ुद को रंग-पोत कर मंगलगान के लिए हाज़िर हो जाना होता था। रिहर्सल में सबसे उम्मीद की जाती थी कि हर किसी का पार्ट उसको याद हो जाए, ताकि वक़्त-बेवक़्त काम आये। ... क्योंकि पितरस बुख़ारी और नाटक-लेखक इम्तियाज़ अली ताज के व्यंग्यात्मक मज़ामीन में चाचा छक्कन जैसे किरदारों का सिनेमा देखने जाने में लेट-लतीफ़ी बरतना उनके उपहास का कारण बनता है।**

स्वीकार करें, तो कहना पड़ेगा कि आधुनिकता का ये तजुर्बा हमारे चरितकारों ने एक ख़ास तरह की ज़िंदगी जीते हुए किया। यह ज़िंदगी एक ख़ास तरह के आधुनिक समयबद्ध अनुशासन में कई-कई शहरों में रोज़ाना रियाज़ और 'शो' के प्रति पेशेवर प्रतिबद्धता का नमूना है, जो दर्शकों की पसंद-नापसंद पर टिकी थी। अल्फ्रेड, न्यू अल्फ्रेड, कोरिन्थियन या गुजरात नाटक मण्डली-जैसे नाम वाली कम्पनियाँ लम्बी-लम्बी रेलगाड़ियों में तंबू-कनात, झाड़-फ़ानूस, पर्दे-कुर्सियाँ, और प्रकाश व्यवस्था का अपना साज़ो-सामान लेकर एक शहर से दूसरे शहर, एक मेले से दूसरे में जाती थी। इन आयोजनों में और फ़नकारों में एक बड़ी पूँजी लगी होती थी, जिन्हें कम्पनियाँ ठेके और आकर्षक *पगार* की डोर से बाँधकर रखती थीं। हर शो एक टीमवर्क होता था, कुशल जन-प्रबंधन की एक मिसाल, जिसके लिए सहयोग और अनुशासन दोनों ज़रूरी थे।

अब वक़्त की बड़ी और अस्पष्ट इकाइयों को छोटी और माप्य इकाइयों में घटा कर जीवन को तदनुरूप ढालने और बरतने का नाम अगर आधुनिकता है तो नाटक कम्पनियों ने इसके कठोर अनुपालन में कोई कसर नहीं छोड़ी। वैसे तो हरेक चरित में इस नये कालबोध से तआरुफ़ हासिल करने का ज़िक्र है, लेकिन फ़िदा हुसैन के जीवन से मिसाल लेते हैं। वे फ़रमाते हैं कि न्यू अल्फ्रेड में नाश्ते का एक ख़ास वक़्त मुक़र्रर था, और अगर आप देर से पहुँचे तो आप चाहे बड़े सितारे ही क्यों न हों, आपको नाश्ता नहीं मिलेगा। कम्पनी ने वक़्त की पाबंदी लागू करने के लिए चौथ नामक अमले को एक ज़ेनिथ घड़ी दी हुई थी, जिसे वह सुबह सात बजे समय मिलाने के लिए या तो रेलवे स्टेशन ले जाता था या पोस्ट ऑफ़िस। फ़र्ज़ कीजिए कि शो का मुक़र्रर वक़्त साढ़े नौ बजे है, तो 8:00 बजे मंदिरों जैसा विशालकाय घंटा पहली मर्तबा सौ बार बजेगा, दूसरी मर्तबा 8.15 पर पचास बार और तीसरे दफ़े पच्चीस बार बजता था 8.30 पर। तब तक आपकी भूमिका चाहे आख़िरी सीन में हो लेकिन आपको ख़ुद को रंग-पोत कर मंगलगान के लिए हाज़िर हो जाना होता था। रिहर्सल में सबसे उम्मीद की जाती थी कि हर किसी का पार्ट उनको याद हो जाए, ताकि वक़्त-बेवक़्त काम आये। आख़िरी मिनट तक बरती गयी इस तरह की पाबंदी का रियाज़ धीरे-धीरे दर्शकों को भी हो गया होगा। क्योंकि पितरस बुख़ारी और नाटक-लेखक इम्तियाज़ अली ताज के व्यंग्यात्मक मज़ामीन में चाचा छक्कन जैसे किरदारों का सिनेमा देखने जाने में लेट-लतीफ़ी बरतना उनके उपहास का कारण बनता है। बाद में चलकर जिसकी घड़ी से सारी घड़ियाँ मिलाई जाती थीं, यानी रेडियो की, उसने अपने कर्मचारियों और श्रोताओं दोनों को समय के आधुनिक पाठ पढ़ाए, ये दीगर बात है कि गायक की भूमिका में उतरे कुंदन लाल सहगल (फ़िल्म *दुश्मन,* 1939) से लेकर राजेश खन्ना (*अनुरोध,* 1977) तक रेडियो की इस सख़्त पाबंदी की रिवायत से जूझते हैं। क़िस्सा कोताह यही कि हमारे नाट्यचरितकारों ने कम्पनी नाटकों में अनुशासन, रियाज़त और पेशेवराना रवैये को रेखांकित करते हुए नये तरह के वक़्त की नयी

पाबंदी को हैरत और प्रशंसा के भाव से याद किया है।

दिलचस्प यह भी है कि भाषा–व्यवहार को लेकर बरेली से लेकर बुलंदशहर तक फैले उत्तर प्रदेश के विभिन्न शहरों–क़स्बों के तीन बाशिंदों की संवेदनाएँ भी किंचित भिन्न हैं: फ़िदा किसी भी समुदायगत विभाजन को तूल नहीं देते, राधेश्याम कथावाचक मालवीय के शिष्य और कांग्रेस के सदस्य और उसकी नागरी प्रचारिणी वाली धारा के सेवक और उपासक हैं, लेकिन आर्यसमाजी बेताब का अपना गद्य ज़्यादा संकर है, उसमें खिलंदड़पना है तो मौखिक परम्पराओं से काव्यात्मक उद्धरण— रुबाई, शेरो–शायरी या छंदबद्ध कवित्त— के लिए पर्याप्त अवकाश भी। और हो भी क्यों नहीं, आख़िरकार नित नये प्रयोग परोस कर मुनाफ़ा कमाने वाले पारसी रंगकर्म में शेक्सपियर से ले कर कालिदास तक के लिए जगह थी, तो लैला–मजनूँ से लेकर यथार्थ घटना पर आधारित क़त्ले–नज़ीर के लिए भी, सामाजिक और धार्मिक खेलों का तो बोलबाला था ही। मानना पड़ता है कि सिनेमा से पहले की अगर कोई संगम–विधा थी तो यही— क्योंकि हरेक आत्मचरितकार अपनी–अपनी सांस्कृतिक विरासत से प्रेरणा लेता है : *गीत गोविंद* की अष्टपदियाँ, *रामायण* की चौपाइयाँ, प्रेमानंद के आख्यान, स्वाँग, नौटंकी, भवाई, कठपुतली नाच, रामलीला, रासलीला ये सब उनके संस्कार का हिस्सा थे, क्योंकि व्रत–त्योहार व नौचंदी जैसे मेले–ठेलों में हिंदू–मुसलमानों के मिश्रित सांगीतिक आयोजन आम थे।

फ़िदा किसी भी समुदायगत विभाजन को तूल नहीं देते, राधेश्याम कथावाचक मालवीय के शिष्य और कांग्रेस के सदस्य और उसकी नागरी प्रचारिणी वाली धारा के सेवक और उपासक हैं, लेकिन आर्यसमाजी बेताब का अपना गद्य ज़्यादा संकर है, उसमें खिलंदड़पन है तो मौखिक परम्पराओं से काव्यात्मक उद्धरण— रुबाई, शेरो–शायरी या छंदबद्ध कवित्त— के लिए पर्याप्त अवकाश भी।... पारसी रंगकर्म में शेक्सपियर से ले कर कालिदास तक के लिए जगह थी, तो लैला–मजनूँ से लेकर यथार्थ घटना पर आधारित क़त्ले–नज़ीर के लिए भी, सामाजिक और धार्मिक खेलों का तो बोलबाला था ही।

फ़िदा की हिंदुस्तानी कहन–शैली में निबद्ध आत्मकथा अपने कथ्य में बहुसंख्यक आबादी से घिरे अल्पसंख्यक–मानस की चुग़ली करती है, भले ही अपनी नाटकीय रियाज़त के बारे में विश्वस्त वे प्रतिभाजी के नैतिक सवालों को अपने ही अंदाज़ में कुंद भी करते चलते हैं। कथावाचक का लेखकीय गद्य अपेक्षाकृत ज़्यादा सधा हुआ है, लेकिन अनावश्यक विराम–चिह्नों से आक्रांत, जिससे कैथी ने निज़ात पा ली है, लेकिन इस गद्य में कथावाचन की मौखिकीयता झाँक–झाँक जाती है। ज़ाहिर है कि तर्जुमानी में भाषा के विशिष्ट लबोलहजे का जो ऊबड़–खाबड़पन या लोच–लालित्य है, वह कैथी मानती हैं कि अनुवाद में किंचित चौरस हो गया है। लेकिन अनुवाद में श्रम और सूझ–बूझ की झलक साफ़ है। लेखिका ने हरेक आत्मचरित के उत्पादन के हालात और उनके कई संस्करणों से गुज़रते हुए तेवर–कलेवर में हुए बदलाव की कालांकित जन्मकुण्डली बना कर नाटक के विद्यार्थियों को काफ़ी सहूलियतें मुहैया करा दी हैं। जहाँ तक उस ज़माने के नाटकीय गद्य का सवाल है, आग़ा हश्र को सादर याद करते हुए— 'उनके लिखे हुए सीन मास्टर सीन ही होते थे, लाजवाब होते थे, क़लम की दृष्टि से भी और स्टेज की नज़र से भी'— कथावाचक ने जो कहानी सुनाई है, वह फिर से सुनने लायक़ है :

> मेरे 'श्रवण कुमार' की कटु आलोचना निकली— आगरे के एक साहित्यिक पत्र में। श्री आग़ा हश्र ने कहीं देख ली। तो मेरे पास आकर कहा—क्यों छपवाते हो अपने नाटक? नाटक खेलने की चीज़

है पढ़ने की नहीं। अभी हिंदुस्तान में हिंदी इतनी नहीं उठी है— जितनी पश्चिम में अंग्रेज़ी। यहाँ थिएटरों में अभी लम्बे अरसे तक खिचड़ी (गिरी-पड़ी) भाषा ही चलेगी। हिंदी के ऊँचे लोग चाहते हैं ऐसी उच्च कोटि की भाषा जिसे स्टेज पर रखा जाय तो उन हिंदी के दिग्गजों के घर वाले तक नाटक देखने आवें तो न समझ सकें। कम्पनी का पहली ही रात 'टाट' उलट जाय। फिर इन आलोचकों को न स्टेज का ज्ञान है, न वाक़यात जानते हैं। अंधाधुंध लिख मारते हैं। (*मेरा नाटक-काल,* पृ. 176)

बेताब भी आग़ा हश्र की लेखकीय प्रतिभा के प्रशंसक थे, लेकिन यही बात बेताब को लेकर आग़ा हश्र के बारे में शायद नहीं कही जा सकती। कैथी ने ऐसे अंतर्वैयक्तिक मानीख़ेज़ प्रसंगों को अपने सम्पादन और अनुवाद में रहने दिया है, और उनकी नज़र से यह बात भी नहीं छिपती कि बेताब और कथावाचक दोनों की नज़र में आग़ा हश्र की शराबनोशी और तवायफ़बाज़ी पतनशील सामंतशाही की निशानी, लिहाज़ा निंदनीय है। फ़िदा हुसैन बताते हैं कि नामचीन और इज़्ज़तदार तवायफ़ों को ख़ास थियेटरों में दर्शक के रूप में भी घुसने की सख़्त मनाही थी। हम कह सकते हैं कि आज़ादी के बाद आकाशवाणी में पटेल द्वारा जलावतनी दिये जाने के बहुत पहले से नृत्य-संगीत के ज़रिये अपनी रोज़ी कमाने वाली तवायफ़ों को समाज के कोने में ढकेल देने या सुधर जाने का फ़रमान ज़ारी किया जा चुका था। साथ ही उच्च-भ्रू साहित्यिक छप-संस्कृति और लोकप्रिय रंगकर्म में एक तनाव तो उभर ही रहा था बीसवीं सदी के पहले हिस्से में, जिसके सबूत के तौर पर हम गीतिमयता आदि के लिहाज से पारसी रंगमंच से प्रभावित जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों को ले सकते हैं, जिनके बारे में समकालीन समीक्षकों और नाट्यलेखकों की आम राय बन चली थी कि इनको खेलना बहुत मुश्किल है : हिंदी नाटक पठनीय तो हैं, मंचन के लिए उपयुक्त नहीं। 'खेल' और 'खेल की किताब' के बीच एक और दिलचस्प तनाव चोरी की सम्भावना से पैदा होता है : छपा नहीं कि लोग नक़ल कर लेंगे और खेलते फिरेंगे। इन नाटकों के कम छापे जाने की एक वजह शायद यह भी रही। इससे मनोरंजन के बाज़ार में नाटक कम्पनियों की आपसी होड़ का अंदाज़ा लगता है।

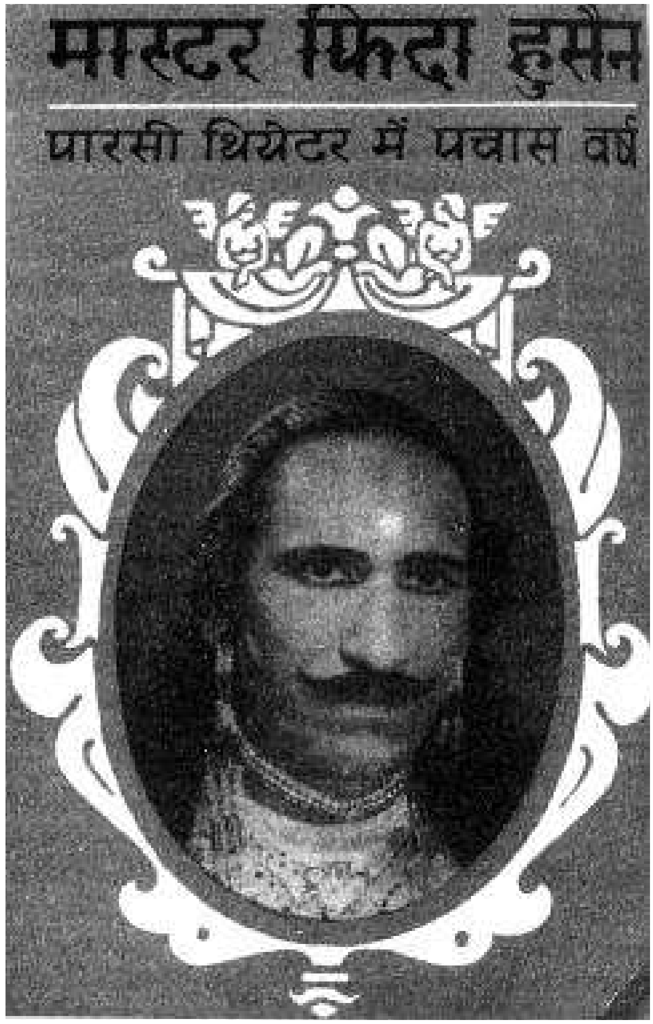
मार्के की बात है कि अविभाजित भारत के ढेर सारे बड़े-छोटे शहरों की कम्पनियों, ख़ासो-आम और राजे-रजवाड़ों के आश्रय और कभी-कभार दुराश्रय में परवान चढ़ते इन तमाम फ़नकारों में पारसी रंगमंच से जुड़ने की ललक अपने आस-पास पसरी कलात्मक रियाज़तों से ही मिली, वैसे ही जैसे शुरुआती दौर के फ़िल्मकारों ने अपना संगीत-नृत्य-अभिनय का ककहरा समाज से ही सीखा, भले ही ज़्यादातर मामलों में कलाकर्म से इनका जुड़ना शुरू-शुरू में परिवार के लिए अमंगल और समाजद्रोही कर्म माना गया। संगीत-नृत्य से वाबस्ता नायकों के ख़ानदान में जन्मे सुंदरी को एक हद तक अपनी नातेदारियों का सहारा ज़रूर मिला, लेकिन अड़चनें कोई कम नहीं आयीं। कथावाचक थोड़े क़िस्मत वाले थे कि उनके पिता ख़ुद प्रवचन-गायन करते थे, और उन्हें कम्पनियों के नाटक न सिर्फ़ दिखाते थे, बल्कि उस दिशा में प्रेरित भी किया करते थे। इसके बरअक्स हाजी-हाफ़िज़ों के ख़ानदान में जन्मे फ़िदा को बाल्यकाल में संगीत-प्रेम के चलते बारम्बार पिटना पड़ा, उनके पान में सिंदूर डाल कर उनको महीनों तक गूँगा बना दिया गया, और उन्हें घर से भागना भी पड़ा; सुंदरी का पढ़ाई में मन न लगे, दोनों ही का हस्बेमामूल इलाज शादी में ढूँढ़ा गया, पर मर्ज़ बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की।

ग़रज़ कि वो ज़माना ही कुछ ऐसा था कि इतने सारे धार्मिक नाटकों को सिरजने और इनमें काम करने के बावजूद इनमें से हरेक की ख़ुदी पर नैतिक प्रदूषण में लिथड़े होने का एक घटाटोप साया मँडराता रहता है जिससे हर चरित अपने-अपने ढंग से निबटता है, और इतने पुरस्कार-मेडल, धन-यश लाभ के बावजूद आजन्म निबटता है। बेताब के शब्दों में :

मैंने हिंदी तेरे साहित्य को बदनाम किया,
फिर भी कुछ सोच के ख़ुश हूँ कि कोई काम किया।

(*बेताबचरित,* पृ. 79)

राधेश्यामजी तो जन्मना ग़रीब ब्राह्मण थे, और पुश्तैनी पेशे से वैष्णव कथावाचक भी, इसलिए वे न केवल धार्मिक आभा से आविष्ट आये, बल्कि उन्होंने अपने लेखन–वाचन में सनातन हिंदू धर्म व उदीयमान भाषाई शुद्धता आंदोलन की सबसे पुरज़ोर वकालत भी की— शायद इसीलिए साहित्य अकादेमी की आधुनिक निर्माता शृंखला में मधुरेश लिखित जीवनी उनका बढ़–चढ़ कर महिमामण्डन करती है—भले ही उन्होंने नाटकों में महिलाओं के प्रवेश का सगर्व विरोध भी किया हो। लेकिन बाक़ी तीनों को अपेक्षाकृत ज़्यादा मशक़्क़त करनी पड़ी, लेकिन एक बार राह खुल जाने के बाद फ़िदा एक दिन के लिए भी बेरोज़गार नहीं रहे। बेताब ने भी रणजीत फ़िल्म्स और सरोज मूवीटोन में कथा, पटकथा, गीत व संवाद लिखकर आरामदेह ज़िंदगी बसर की और प्रवचन, पिंगल और उर्दू सिखाने वाले फ़िल्मेतर विषयों पर भी ख़ूब लिखा। ब्राह्मणभट्ट–कुल में जन्मे और पेशे से हलवाई बेताब को आर्य समाज और *सत्यार्थ प्रकाश* में सामाजिक इज़्ज़त और आध्यात्मिक मुक्ति की राह मिली, तो मास्टर फ़िदा हुसैन नरसी को योग में, और प्रदर्शनात्मक कलाओं के अभ्यस्त नायक कुल के जयशंकर सुंदरी ने पातिव्रत्य के औदात्यपूर्ण चित्रण में पहली दो नाकाम शादियों के बावजूद लम्बे समय तक चलने वाले अपने एकाकी जीवन की सार्थकता व्यक्त की। हालाँकि कैथी हमें अपने उत्तर–कथ्यों में ये बताती चलती हैं कि दुराव–छिपाव भी बहुत है, इन आत्मकथाओं में। मिसाल के तौर पर स्त्री–भूमिका करनेवाले जयशंकर सुंदरी अपनी सखियों और (आध्यात्मिक) प्रेमिकाओं के बारे में तो बताते हैं लेकिन हमजिंसों के साथ किसी आशनाई का कोई ज़िक्र नहीं है, उल्टे उनके यहाँ अपने मर्दाना आकर्षण और इतर–लिंगी और अलभ्य विवाहेतर प्रेम का दुर्निवार इज़हार है। एक बेताब ही हैं, जो नाटक में काम करने वाले एक जवान लड़के पर एकदा दीवानावार मर–मिटने की घटना का ईमानदारी से इक़रार करते हैं।



मास्टर फ़िदा हुसैन की किताब का आवरण

इसलिए जहाँ किताब के पहले हिस्से में कैथी नाट्यात्मचरितों के इस अभिलेखागार में छुपे इतिहासोपयोगी बेशुमार रत्नों में से कुछ की शिनाख़्त करती हैं, फिर आत्मकथाओं से पाठकों को गुज़ार लेने के बाद दूसरे हिस्से में उनकी ख़ामोशियों और विसंगतियों का बारीक पाठ भी। नतीजा

निकलता है कि बतौर विधा हमें आत्मकथा में अगर ऐसी कोई शै होती है तो भी सम्पूर्ण सत्य के निदर्शन का मुग़ालता नहीं पालना चाहिए। यह नसीहत कैथी ने आत्मकथा पर हुए सैद्धांतिक चिंतन पर भी नज़रे-सानी करते हुए दी है, और इस मामले में तथाकथित पाश्चात्य प्रगल्भता व हिंदुस्तानी संकोच के अपरीक्षित विरोध की भी परीक्षा की है और पौर्वात्य संकोचशीलता को संस्कृत-फ़ारसी-उर्दू की अदबी परम्परा की शैलीगत विशिष्टता-भर माना है, यह सलाह देते हुए कि आत्मचरितकारों के बारम्बार घोषित ख़ुदी के नाचीज़पन को अक्षरशः मानने का कोई मतलब नहीं। साथ ही वे ये रेखांकित ज़रूर करती हैं कि आत्मकथाओं की ऐतिहासिक विरासत में एक तर-तमता या पदानुक्रम तो रहा ही है, उनमें वैचारिक आग्रहों-दुराग्रहों का आवेश भी रहा है। लिहाज़ा हर आत्मकथा अंततः एक प्रदर्शन है, एक तरह का अभिनय, और कैथी जिन पर विचार कर रही हैं, वे तो अभिनय करने-कराने वालों का आत्मकथ्य होने के चलते डबल-प्रदर्शन के तौर पर देखे जाने लायक़ माना जाना चाहिए। इनके वास्तविक अभिनय को जहाँ टिकटों की बिक्री, और वन्स मोर की माँग की कसौटी पर खरा सिद्ध होना होता था— ऐसा अभिनय जिसके पीछे लम्बी साधना और सीखने की सतत ललक बेशक मौजूद है, वहीं लिखित और छपित रूप में कृत्यों की आत्मकहानी जीवन-भर के संस्मरणों के रूढ़ होते जाने की दास्तान भी तो है। और इस रूप में उसे छप-संस्कृति में पहले से मौजूद ऐसी कृतियों के मुक़ाबले खड़ा होना पड़ेगा, कथ्य और शिल्प दोनों के हिसाब से। लेकिन सबसे दिलचस्प बात यही कि आत्मकथाकार अपने जीवन को चाहे जैसे लिख दे, आने वाली पीढ़ियाँ तो उसे अपने ही ढंग-ढर्रे से पढ़ेंगी और संस्कृतिकर्म के इतिहास से जुड़े हम विद्यार्थियों को इनका और कैथी का शुक्रगुज़ार होना चाहिए कि इन्होंने अपने विशिष्ट अंदाज़ में अपनी रामकहानी हमारे सामने पेश की, और उनके लिए हमदर्दी की भावना कैथी की नीर-क्षीर-विवेकशीलता की राह में नहीं आती।